

भगवती आराधना

पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री

अपराजितसूरि की रचना 'भगवती आराधना' दिगम्बर सम्प्रदाय का गान्धर्व ग्रन्थ है। डॉ. सागरमल जी जैन ने इसे 'जैन धर्म का यापनीय सम्प्रदाय' पुस्तक में जैनो के लुप्त सम्प्रदाय 'यापनीय' का ग्रन्थ सिद्ध किया है। इस ग्रन्थ का मूलतः नाम 'आराधना' है, भगवती तो विशेषण है, किन्तु 'आराधना' नाम से अनेक कृतियों से इसका वैशिष्ट्य बताने के लिए 'भगवती' विशेषण ग्रन्थ के नाम का ही भाग बन गया। इस ग्रन्थ में षण्डितमरणा की प्राप्ति हेतु की जाने वाली आराधना का सुन्दर निरूपण हुआ है। इसका परिचय जैन संस्कृति-संरक्षक संघ, शोलापुर से १९७८ में प्रकाशित 'भगवती आराधना' की प्रस्तावना से चयन कर संगृहीत किया गया है।

—सम्पादक

प्रस्तुत ग्रन्थ का नाम आराधना है और उसके प्रति परम आदरभाव व्यक्त करने के लिए उसी तरह भगवती विशेषण लगाया गया है जैसे तीर्थंकरों और महान् आचार्यों के नामों के साथ भगवान् विशेषण लगाया जाता है। ग्रन्थ के अंत में ग्रन्थकार ने 'आराहणा भगवती' (गाथा २१६२) लिखकर आराधना के प्रति अपना महत् पूज्यभाव व्यक्त करते हुए उसका नाम भी दिया है। फलतः यह ग्रन्थ भगवती आराधना के नाम से ही सर्वत्र प्रसिद्ध है। किन्तु यथार्थ में इसका नाम आराधना मात्र है। इसके टीकाकार श्री अपराजित सूरि ने अपनी टीका के अन्त में इसका नाम आराधना टीका ही दिया है।

जैसा कि इस ग्रन्थ के नाम से प्रकट है, इस ग्रन्थ में आराधना का वर्णन है। ग्रन्थ की प्रथम गाथा में ग्रन्थकार ने चार प्रकार की आराधना के फल को प्राप्त सिद्धों और अर्हन्तों को नमस्कार करके आराधना का कथन करने की प्रतिज्ञा की है और दूसरी गाथा में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र और तप के उद्योतन, उद्भवन, निर्वहन, साधन और निस्तरण को आराधना कहा है। टीकाकार ने अपनी टीका में इनको स्पष्ट किया है।

तीसरी गाथा में संक्षेप से आराधना के दो भेद कहे हैं— प्रथम सम्यक्त्वाराधना और दूसरी चारित्राराधना। चतुर्थ गाथा में कहा है कि दर्शन की आराधना करने पर ज्ञान की आराधना नियम से होती है। किन्तु ज्ञान की आराधना करने पर दर्शन की आराधना भजनीय है, वह होती भी है और नहीं भी होती, क्योंकि सम्यग्दर्शन के होने पर सम्यग्ज्ञान नियम से होता है, परन्तु ज्ञान के होने पर सम्यग्दर्शन के होने का नियम नहीं है।

गाथा ६ में कहा है कि संयम की आराधना करने पर तप की आराधना नियम से होती है, किन्तु तप की आराधना में चारित्र की आराधना भजनीय है, क्योंकि सम्यग्दृष्टि भी यदि अविरत है तो उसका तप हाथी के स्नान की तरह व्यर्थ है। अतः सम्यक्त्व के साथ संयमपूर्वक ही तपश्चरण

करना कार्यकारी होता है, इसलिये चारित्र की आराधना में सबकी आराधना होती है अर्थात् सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान पूर्वक ही सम्यक् चारित्र होता है। इसलिये सम्यक् चारित्र की आराधना में सबकी आराधना गर्भित है। इसी से आगम में आराधना को चारित्र का फल कहा है और आराधना परमागम का सार है। १४॥ क्योंकि बहुत समय तक भी ज्ञान दर्शन और चारित्र का निरतिचार पालन करके भी यदि मरते समय उनकी विराधना कर दी जाये तो उसका फल अनंत संसार है। १६॥ इसके विपरीत अनादि मिथ्यादृष्टि भी चारित्र की आराधना करके क्षणमात्र में मुक्त हो जाते हैं। अतः आराधना ही सारभूत है। १७॥

इस पर से यह प्रश्न किया गया कि यदि मरते समय की आराधना को प्रवचन में सारभूत कहा है तो मरने से पूर्व जीवन में चारित्र की आराधना क्यों करनी चाहिए। १८॥ उत्तर में कहा है कि आराधना के लिए पूर्व में अभ्यास करना योग्य है। जो उसका पूर्वाभ्यासी होता है उसकी आराधना सुखपूर्वक होती है। १९॥ यदि कोई पूर्व में अभ्यास न करके भी मरते समय आराधक होता है तो उसे सर्वत्र प्रमाणरूप नहीं माना जा सकता। २४॥

इस कथन से हमारे इस कथन का समाधान हो जाता है कि दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप का वर्णन जिनगम में अन्यत्र भी है, किन्तु वहाँ उन्हें आराधना शब्द से नहीं कहा है। इस ग्रन्थ में मुख्यरूप से मरणसमाधि का कथन है। मरते समय की आराधना ही यथार्थ आराधना है। उसी के लिए जीवनभर की आराधना की जाती है। उस समय विराधना करने पर जीवन भर की आराधना निष्फल हो जाती है और उस समय की आराधना से जीवनभर की आराधना सफल हो जाती है। अतः जो मरते समय आराधक होता है यथार्थ में उसी के सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र और सम्यक्तप की साधना को आराधना शब्द से कहा जाता है।

इस प्रकार चौबीस गाथाओं के द्वारा आराधना के भेदों का कथन करने के पश्चात् इस विशालकाय ग्रन्थ का मुख्य वर्ण्य विषय मरणसमाधि प्रारम्भ होता है। इसको प्रारम्भ करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि यद्यपि जिनगम में सतरह प्रकार के मरण कहे हैं किन्तु हम यहाँ संक्षेप से पाँच प्रकार के मरणों का कथन करेंगे। २५॥ वे हैं—पण्डित-पण्डितमरण, पण्डितमरण, बालपण्डितमरण, बालमरण और बाल बालमरण। २६॥ क्षीणकषाय और केवली का मरण पण्डित-पण्डितमरण है और विरतविरत श्रावक का मरण बालपण्डितमरण है। २७॥ अविरत सम्यग्दृष्टि का मरण बालमरण है और मिथ्यादृष्टि का मरण बाल-बालमरण है। २९॥

पण्डितमरण के तीन भेद हैं— भक्तप्रतिज्ञा, प्रायोपगमन और इंगिनीमरण। यह मरण शास्त्रानुसार आचरण करने वाले साधु के होत

है। ॥२९॥

इसके अनन्तर ग्रन्थकार ने सम्यक्त्व की आराधना का कथन किया है।

सम्यक्त्वााराधना-गाथा ४३ में सम्यक्त्व के पाँच अतिचार कहे हैं— शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, अन्यदृष्टि प्रशंसा और अनायतन सेवा तत्त्वार्थसूत्र में अनायतन सेवा के स्थान में 'संस्तव' नामक अतिचार कहा है।

टीकाकार अपराजितसूरि ने अपनी टीका में अतिचारों को स्पष्ट करते हुए शंका अतिचार और संशयमिथ्यात्व के भेद को स्पष्ट करते हुए कहा है कि शंका तो अज्ञान के कारण होती है उसके मूल में अश्रद्धान नहीं है। किन्तु संशयमिथ्यात्व के मूल में तो अश्रद्धान है। इसी प्रकार मिथ्यात्व सेवन अतिचार नहीं है, अनाचार है, मिथ्यादृष्टियों की सेवा अतिचार है। द्रव्यलोभादि की अपेक्षा करके मिथ्याचारित्र वालों की सेवा भी अतिचार है।

गाथा ४४ में उपगूहन, स्थिरीकरण, वात्सल्य और प्रभावना को सम्यग्दर्शन का गुण कहा है।

गाथा ४५—४६ में दर्शनविनय का वर्णन करते हुए अरहन्त, सिद्ध, जिनबिम्ब, श्रुत, धर्म, साधुवर्ग, आचार्य, उपाध्याय, प्रवचन और दर्शन में भक्ति, पूजा, वर्णजनन तथा अवर्णवाद का विनाश और आसादना को दूर करना, इन्हें दर्शन विनय कहा है। टीकाकार ने इन सबको स्पष्ट किया है। इनमें 'वर्णजनन' शब्द का प्रयोग दिगम्बर साहित्य में नहीं पाया जाता। वर्णजनन का अर्थ है महत्ता प्रदर्शित करना। टीकाकार ने इसका कथन विस्तार से किया है।

गाथा ५५ में मिथ्यात्व के तीन भेद कहे हैं, संशय, अभिगृहीत, अनभिगृहीत।

इस प्रकार सम्यग्दर्शन आराधना का कथन करने के पश्चात् गाथा ६३ में कहा है कि प्रशस्तमरण के तीन भेदों में से प्रथम भक्तप्रतिज्ञा का कथन करेंगे क्योंकि इस काल में उसी का प्रचलन है। इसी का कथन इस ग्रन्थ में मुख्य रूप से है, शेष दो का कथन तो ग्रन्थ के अन्त में संक्षेप से किया है।

भक्तप्रत्याख्यान— गाथा ६४ में भक्तप्रत्याख्यान के दो भेद किये हैं— सविचार और अविचार। यदि मरण सहसा उपस्थित हो तो अविचार भक्तप्रत्याख्यान होता है अन्यथा सविचार भक्तप्रत्याख्यान होता है। सविचार भक्तप्रत्याख्यान के कथन के लिए चार गाथाओं से ४० पद कहे हैं और उनका क्रम से कथन किया है।

उन ४० पदों में से सबसे प्रथम पद 'अहं' का कथन करते हुए कहा है—

जिसको कोई असाध्य रोग हो, मुनिधर्म को हानि पहुँचाने वाली वृद्धावस्था हो, या देवकृत, मनुष्यकृत, तिर्यचकृत उपसर्ग हो, अथवा चारित्र का विनाश करने वाले शत्रु या मित्र हों, दुर्भिक्ष हो, या भयानक वन में भटक गया हो, या आँख से कम दिखाई देता हो, कान से कम सुनाई देता हो, पैरों में चलने—फिरने की शक्ति न रही हो, इस प्रकार के अपरिहार्य कारण उपस्थित होने पर विरत अथवा अविरत भक्तप्रत्याख्यान के योग्य होता है॥७०—७३॥

जिसका मुनिधर्म चिरकाल तक निर्दोश रूप से पालित हो सकता है, अथवा समाधिमरण करने वाले निर्यापक सुलभ हैं या दुर्भिक्ष का भय नहीं है, वह सामने भय के न रहने पर भक्त प्रत्याख्यान के योग्य नहीं है। यदि ऐसी अवस्था में भी कोई मरना चाहता है तो वह मुनिधर्म से विरक्त हो गया है, ऐसा मानना चाहिए॥७४—७५॥ इसके अनन्तर अचेलता, केशलोच, निर्ममत्व आदि औत्सर्गिक लिंग का कथन एवं उसके लाभ बताये हैं।

विजयोदया में इन सबका वर्णन किया है जो अन्यत्र नहीं मिलता। इस प्रकार विचार कर यदि उसकी आयु अल्प रहती है तो वह अपनी शक्ति को न छिपा कर भक्त प्रत्याख्यान का निश्चय करता है॥७८॥ तथा संयम के साधनमात्र परिग्रह रखकर शेष का त्याग कर देता है॥७९॥ तथा पाँच प्रकार की संक्लेश भावना नहीं करता। इन पाँचों भावनाओं का स्वरूप ग्रंथकार ने स्वयं कहा है॥८०—८६॥

आगे सल्लेखना के दो भेद कहे हैं बाह्य और आभ्यन्तर। शरीर को कृश करना बाह्य सल्लेखना है और कषायों का कृश करना आभ्यन्तर सल्लेखना है। बाह्य सल्लेखना के लिए छह प्रकार के बाह्य तप का कथन किया है।

विविक्तशय्यासन तप का कथन करते हुए गाथा २३२ में उद्गम, उत्पादन आदि दोषों से रहित वसतिका में निवास कहा है। टीकाकार ने अपनी टीका में इन दोषों का कथन किया है। ये सर्वदोष मूलाचार में भी कहे हैं। आगे बाह्य तप के लाभ बतलाये हैं।

गाथा २५१ में विविध भिक्षु प्रतिमाओं का निर्देश है। टीकाकार अपराजितसूरि ने तो उनका कथन नहीं किया, किन्तु आशाधर जी ने किया है। उनकी संख्या बारह कही है। मूलाचार में इनका कथन नहीं है।

इस भक्त प्रत्याख्यान का उत्कृष्ट काल बारह वर्ष का है। चार वर्ष तप अनेक प्रकार के कायक्लेश करता है। फिर दूध आदि रसों को त्यागकर चार वर्ष बिताता है। फिर आचाम्ल और निर्विकृति का सेवन करते हुए दो वर्ष बिताता है, एक वर्ष केवल आचाम्ल सेवन करके बिताता है। शेष रहे एक वर्ष में से छह मास मध्यम तपपूर्वक और शेष छह मास उत्कृष्ट तपपूर्वक बिताता है। (२५४—२५६)

इस प्रकार शरीर की सल्लेखना करने हुए वह परिणामों की विशुद्धि की ओर सावधान रहता है। एक क्षण के लिए भी उस ओर से उदासीन नहीं होता।

इस प्रकार से सल्लेखना करने वाले या तो आचार्य होते हैं या सामान्य साधु होते हैं। यदि आचार्य होते हैं तो वे शुभमुहूर्त में सब संघ को बुलाकर योग्य शिष्य पर उसका भार सौंपकर सबसे क्षमायाचना करते हैं और नये आचार्य को शिक्षा देते हैं। उसके पश्चात् संघ को शिक्षा देते हैं। यथा--

हे साधुओं! आपको विष और आग के तुल्य आर्याओं का संसर्ग छोड़ना चाहिये। आर्या के साथ रहनेवाला साधु शीघ्र ही अपयश का भागी होता है॥३३२॥ महान् संयमी भी दुर्जनों के द्वारा किये गये दोष से अनर्थ का भागी होता है अतः दुर्जनों की संगति से बचो॥३५०॥

सज्जनों की संगति से दुर्जन भी अपना दोष छोड़ देते हैं, जैसे—सुमेरु पर्वत का आश्रय लेने पर कौवा अपनी असुन्दर छवि को छोड़ देता है॥३५२॥

जैसे गन्धरहित फूल भी देवता के संसर्ग से उसके आशीर्वादरूप सिर पर धारण किया जाता है उसी प्रकार सुजनों के मध्य में रहने वाला दुर्जन भी पूजित होता है॥३५३॥

गुरु के द्वारा हृदय को अप्रिय लगने वाले वचन भी कहे जाने पर पथ्यरूप से ही ग्रहण करना चाहिए। जैसे बच्चे को जबरदस्ती मुँह खोल पिलाया गया घी हितकारी होता है॥३६०॥

अपनी प्रशंसा स्वयं नहीं करनी चाहिए। जो अपनी प्रशंसा करता है वह सज्जनों के मध्य में नृण की तरह लघु होता है॥३६१॥

इस प्रकार आचार्य संघ को उपदेश देकर अपनी आराधना के लिए अपना संघ त्यागकर अन्य संघ में जाते हैं। ऐसा करने में ग्रन्थकार ने जो उपपत्तियाँ दी हैं वे बहुमूल्य हैं॥३८५॥

समाधि का इच्छुक साधु निर्यापक की खोज में पाँच सौ सान सौ योजन तक भी जाता है ऐसा करने में उसे बारह वर्ष तक लग सकते हैं॥४०३—४०४॥ इस काल में यदि उसका मरण भी हो जाता है तो वह आराधक ही माना गया है॥४०६॥ योग्य निर्यापक को खोजते हुए जब वह किसी संघ में जाता है तब उसकी परीक्षा की जाती है।

जिस प्रकार का आचार्य निर्यापक होता है उसके गुणों का वर्णन विस्तार से किया है। उसका प्रथम गुण है आचारवन्ध।

जो दस प्रकार के स्थितिकल्प में स्थित होता है वह आचारवान होता है:

गाथा ४२३ में इनका कथन है— ये दस कल्प हैं— आनेलक्य, उद्दिष्टत्याग, शय्यागृह का त्याग, कृतिकर्म, व्रत, ज्येष्ठता, प्रतिक्रमण, मास

और पर्युषण।

श्वेताम्बर आगमों में भी इन दस कल्पों का विस्तार से वर्णन मिलता है। विजयोदया टीकाकार ने अपनी टीका में इनका वर्णन बहुत विस्तार से किया है।

निर्यापक आचार्य के गुणों में एक गुण अवपीडक है। समाधि लेने से पूर्व दोषों की विशुद्धि के लिये आचार्य उस क्षपक से उसके पूर्वकृतदोष बाहर निकालते हैं। यदि वह अपने दोषों को छिपाता है तो जैसे सिंह सियार के पेट में गये मांस को भी उगलवाता है वैसे ही अवपीडक आचार्य उस क्षपक के अन्तर में छिपे मायाशल्य दोषों को बाहर निकालता है। ॥४७९॥

आचार्य के सन्मुख अपने दोषों की आलोचना करने का बहुत महत्त्व है उसके बिना समाधि सम्भव नहीं होती। अतः समाधि का इच्छुक क्षपक दक्षिण पार्श्व में पीछी के साथ हाथों की अंजलि मस्तक से लगाकर मन, वचन, काय की शुद्धिपूर्वक गुरु की वन्दना करके सब दोषों को त्याग आलोचना करता है। अतः गाथा ५६४ में आलोचना के दस दोष कहे हैं। यह गाथा सर्वार्थसिद्धि (९-२२) में भी आई है। आगे ग्रन्थकार ने प्रत्येक दोष का कथन किया है।

आचार्य परीक्षा के लिए क्षपक से तीन बार उसके दोषों को स्वीकार कराते हैं। यदि वह तीनों बार एक ही बात कहता है तो उसे सरलहृदय मानते हैं। किन्तु यदि वह उलटफेर करता है तो उसे मायावी मानते हैं और उसकी शुद्धि नहीं करते।

इस प्रकार श्रुत का पारगामी और प्रायश्चित्त के क्रम का ज्ञाता आचार्य क्षपक की विशुद्धि करता है। ऐसे आचार्य के न होने पर प्रवर्तक अथवा स्थविर निर्यापक का कार्य करते हैं। जो अल्पशास्त्रज्ञ होते हुए भी संघ की मर्यादा को जानता है, उसे प्रवर्तक कहते हैं। जिसे दीक्षा लिए बहुत समय बीत गया है तथा जो मार्ग को जानता है उसे स्थविर कहते हैं।

उदाहरणों के द्वारा निर्यापक आचार्य क्षपक को कष्ट-विपत्ति के समय दृढ़ करते हैं।

मरणोत्तर विधि- गा. १९६८ में मरणोत्तर विधि का वर्णन है। जो आज के युग के लोगों को विचित्र लग सकती है। यथा—

१. जिस समय साधु मरे उसे तत्काल वहाँ से हटा देना चाहिए। यदि असमय में मरा हो तो जागरण, बन्धन या छेदन करना चाहिये। १९६८ ॥

२. यदि ऐसा न किया जाये तो कोई विनोदी देवता मृतक को उठाकर दौड़ सकता है, क्रीड़ा कर सकता है, बाधा पहुँचा सकता है। १९७१ ॥

३. अनिष्टकाल में मरण होने पर शेष साधुओं में से एक दो का मरण हो सकता है इसलिये संघ की रक्षा के लिये तूणों का पुतला बनाकर मृतक के साथ रख देना चाहिये।

४. शव को किसी स्थान पर रख देते हैं। जितने दिनों तक वह शव गीदड़ आदि से सुरक्षित रहता है उतने वर्षों तक उस राज्य में सुभिक्ष रहता है। इस प्रकार सविचार भक्तप्रत्याख्यान का कथन करके अन्त में निर्यापकों की प्रशंसा की है।

अविचार भक्तप्रत्याख्यान— जब विचारपूर्वक भक्तप्रत्याख्यान का समय नहीं रहता और सहसा मरण उपस्थित हो जाता है तब मुनि अविचार भक्त प्रत्याख्यान स्वीकार करता है॥२००५॥ उसके तीन भेद हैं— निरुद्ध, निरुद्धतर, और परम निरुद्ध। जो रोग से ग्रस्त है, पैरों में शक्ति न होने से दूसरे संघ में जाने में असमर्थ है उसके निरुद्ध नामक अविचार भक्त प्रत्याख्यान होता है। इसी प्रकार शेष का भी स्वरूप और विधि कही है।

इस प्रकार सहसा मरण उपस्थित होने पर कोई—कोई मुनि कर्मों का नाशकर मुक्त होते हैं। आराधना में काल का बहुत होना प्रमाण नहीं है, क्योंकि अनादि मिथ्यादृष्टि भी वर्द्धन राजा भगवान् ऋषभदेव के पादमूल में बोध को प्राप्त होकर मुक्ति गया॥२०२१॥

आगे इंगिणीमरण का कथन है—

इंगिणीमरण— इंगिणीमरण का इच्छुक साधु संघ से अलग होकर गुफा आदि में एकाकी आश्रय लेता है, उसका कोई सहायक नहीं होता। स्वयं अपना संस्तर बनाता है। स्वयं अपनी परिचर्या करता है। उपसर्ग को सहन करता है क्योंकि उसके तीन शुभ संहननों में से कोई एक संहनन होता है। निरन्तर अनुप्रेक्षारूप स्वाध्याय में लीन रहता है। यदि पैर में कांटा या आँख में धूल चली जाये तो स्वयं दूर नहीं करता। भूख प्यास का भी प्रतीकार नहीं करता।

प्रायोपगमन— प्रायोपगमन की भी विधि इंगिणी के समान है। किन्तु प्रायोपगमन में तृणों के संस्तरे का निषेध है। उसमें स्वयं तथा दूसरे से भी प्रतीकार निषिद्ध है। जो अस्थिचर्ममात्र शेष रहता है वही प्रायोपगमन करता है। यदि कोई उन्हें पृथ्वी जल आदि में फेंक देता है तो वैसे ही पड़े रहते हैं।

बालपण्डितमरण— भेदसहित पण्डित मरण का कथन करने के पश्चात् बाल पण्डितमरण का कथन है। एक देश संघम का पालन करने वाले सम्यग्दृष्टि श्रावक के मरण को बाल पण्डितमरण कहते हैं। उसके पाँच अणुव्रत और तीन गुणव्रत तथा चार शिक्षाव्रत ये बारह व्रत होते हैं। दिगविरति, देशविरति, और अनर्थदण्डविरति ये तीन गुणव्रत हैं॥२०७५॥ और भोगपरिमाण, सामायिक, अतिथि-संविभाग और प्रोषधोपवास ये चार शिक्षाव्रत हैं। तत्त्वार्थसूत्र में भी ये ही व्रत कहे हैं। किन्तु रत्नकरण्ड श्रावकाचार से इसमें अन्तर है।

श्रावक विधिपूर्वक आलोचना करके तीन शल्यों का त्याग अपने घर में ही संस्तर पर आरूढ़ होकर मरण करता है। यह बालपण्डितमरण है।

अन्त में पण्डित पण्डित मरण का कथन है। जो मुनि क्षपक श्रेणी पर

आरोहण करके केवलज्ञानी होकर मोक्ष लाभ करता है उसका पण्डित पण्डित मरण है। उसकी सब विधि कही है कि किस गुणस्थान में किन प्रकृतियों का क्षय करता है। केवलज्ञानी होने पर क्या—क्या करता है, आदि।

अन्त में कहा है कि समस्त आराधना का कथन श्रुतकेवली भी करने में असमर्थ है।

उक्त विषयपरिचय से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस ग्रन्थ का नाम आराधना क्यों रखा गया और क्यों उसके साथ भगवती जैसा आदरसूचक विशेषण लगाया गया।